ISSN: 2456–5474 RNI No.UPBIL/2016/68367 Vol-2* Issue-11* December- 2017
Innovation The Research Concept

वर्ण व्यवस्था से अभिशप्त मनुष्य एवं दलित साहित्य

अर्निका यादव
अंशकालिक प्रवक्ता,
हिन्दी विभाग,
अकबरपुर महाविद्यालय,
अकबरपुर, कानपुर देहात

सारांश

वर्ण व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है जिसने जातिप्रथा के रूप में आकर आज भी समाज में मनुष्य के जीवन को अभिशप्त कर रखा है। समाज का एक बहुत बडा वर्ग शिक्षा, व्यवसाय, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीति जैसे क्षेत्रों में जातिवादिता का ढिढोरा पीटने में विश्वास करता है। यह भावना और विचार का विषय है जिसके लिये वैचारिक क्रान्ति की आवश्यकता है ऐसे ही सामाजिक परिवेश में दलित साहित्य का पर्याप्त विस्तार हुआ है। आधुनिक भारत में दलित समस्या एक मानसिकता है। यह प्रवत्ति और मानसिकता उनमें भी पायी जाती है जो खुद इस शोषण का शिकार है।

मुख्य शब्द : वर्ण व्यवस्था, वैदिक काल, पुरूष सूक्त।

प्रस्तावना

वैदिक काल में पुरूष सूक्त से जो व्यवस्था चली वह आज भी विद्यमान है पहले तो वर्ण भेद के अनुसार सिर्फ कार्य बंटे हुए थे परन्तु आज के समय में सरकार द्वारा दिये जाने वाले दान पर भी यह प्रथा हावी हो गई है जो जातिवाद प्रथानुसार ही दिया जाता है। जातिवाद बंटवारे के लिये न जाने कितने नये शब्दों का अविष्कार हुआ स्वतन्त्रता पश्चात आने वाली लगभग हर सरकार ने जातिवाद और सम्प्रदाय के समानता के नाम पर अपने अलग–2 विचार प्रकट किये मगर फिर भी सामान्य जाति, पिछड़ी जाति, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति अल्पसंख्यक आदि शब्दों निर्माण सिर्फ जातिवाद बंटवारे के लिए हुआ हालांकि यह वर्गीय विभाजन सिर्फ विभिन्न समुदाय के उन्नति हेतु ही किया गया था परन्तु कभी–कभी इन्हीं जाति आविष्कारक शब्दों से किसी व्यक्ति विशेष की मान– अपमान की प्रतिष्ठा जुड़ जाती है तो कभी राजनीति के क्षेत्र में नेता के लिये लड़खड़ाते हुए करियर में बैशाखी का काम करते है। इस तरह में जातिवादिता एक अभिशाप से ज्यादा और कुछ भी नहीं। यदि किसी उच्चवर्गीय जाति के व्यक्ति को अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति में तोल दिया जाये तो उसे लगेगा जैसे उसके सम्मान को आघात पहुंचाया गया है वहीं किसी निम्नवर्गीय छात्र को सामान्य वर्ग में डालकर उसकी छात्रवृत्ति बन्द कर दी जाए तो शायद उसे भी यह जातिवादिता किसी भंयकर अभिशाप से कम नहीं लगेगी। यह एक ऐसी विडम्बना है जिसमें जातिवादिता की जंजीरो में इक्कीसवी सदी का समाज और भी भयंकरता से जकड़ा हुआ सा प्रतीत होता है, क्योंकि हमारे देश की जनता का भरण–पोशण करने वाली सरकारे भी जातिवादिता से ग्रसित हो चुकी हैं। जिससे बाहर निकलती जनता और सरकार दोनों के लिए असंभव सा प्रतीत होने लगा है, वर्तमान में सर्व साधारण समाज हो या सरकारें दोनों राजनीति के क्षेत्र में जातिवाद भावना से अछूतें नहीं रह पाते और यह भावना समस्त मानव जाति के अन्दर की कमजोरी बन चुकी है जिससे मनुष्य शिक्षित होने के बाद भी बाहर नहीं निकल पा रहा है।

उपकल्पना

प्रस्तावित शोध–विषय में वर्णभेद की परिस्थितयों की चर्चा करते हुये हिन्दी साहित्य के अवदान, सीमाओं तथा राजनीति के अतिरेकी प्रभाव का सम्यक मूल्यांकन करना तथा दलित विमर्श को सकारात्मक और सृजनधर्मी दिशा उन्नमुख तथा प्रतिश्ठापित करने की परिकल्पना की गयी है।

शोधप्रविधि

प्रस्तावित शोधपत्र की अध्ययन विधि मुख्य रूप से व्याख्यात्मक एवं विवेचनात्मक है। जिसमें उक्त साहित्य से सम्बद्व प्रकाशित प्रसंशित रचनाओं तथा पत्र–पत्रिकाओं,इन्टरनेट आदि माध्यमों को भी प्रयोग में लाया गया है।

''दरअसल दलित शब्द व्यक्ति को अपनी अस्मिता स्वाभिमान और अपने इतिहास पर दृश्टिपात करने को बाध्य करता है, वहीं अवगति, वर्तमान स्थिति और तिरस्कृत जीवन के विषय में सोचने के लिए भी विवश करना है दलित शब्द

आक्रोश, चीख, वेदना, चुभन, घुटन, और छटपटाहाट का प्रतीक है दलित शब्द आज प्रेरणा और विद्रोह का पर्यायवाची भी है ''[1]।

''हैदराबाद यूनीवर्सिटी के शोधछात्र रोहित चक्रवर्ती बेमुला इस अभिशाप के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है आत्महत्या से पहले लिखे पत्र में रोहित ने लिखा था ''मुझे मेरी पहचान और नजदीकी सम्भावना तक सीमित कर दिया गया है''[2]।

जब तक रोहित जीवित रहा तो उसका दलित होना ही उसके लिए अभिशाप बना रहा और उसकी मौत के बाद उसे न्याय दिलाने में भी आड़े आ रही है उसके छोटे भाई राजा बेमुला की 2014 में जन्म प्रमाणपत्र के लिए दिये गये आवेदन पत्र में मौजूद विसंगति जिसके आधार पर रोहित के दलित न होने का दावा किया गया था नतीजतन कुछ समय के लिए केस लटका दिया गया। रोहित के लिए क्या अभिशाप बना ? दलित होना या न होना शायद सम्पूर्ण जातिवाद समाज ही अभिशाप बना। क्या विडम्बना है इस समाज की जहां एक तरफ समाज का मूल अर्थ सभ्य मनुष्यों का समूह, जिनके द्वारा अनाथ, लाचार बेसहारा उपेक्षित लोगों को प्यार सम्मान और जीवन का हक मिलना चाहिए वहीं सभ्य मनुष्यों का समूह अर्थात समाज इनको कभी वैश्या का नाम देकर कभी किसी अनाथ को पाप का अंश तो किसी जाति समूह को दलित का नाम देकर अपने बीच से अलग–थलग करके उनका शोषण करता है। जिन्हें समाज के सहयोग की सबसे ज्यादा आवश्यकता होती है वही समाज की नजरों में उपेक्षित होते हैं।

दलित शब्द शोषितों के लिए इस तरह से अभिशाप बना कि उन्हे दलित साहित्य आन्दोलन की भी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। दलित साहित्य आन्दोलन साहित्य के क्षेत्र में क्रान्ति–स्वरूप उभर कर सामने आ रहा है जो शताब्दियों से शोषित एवं निम्नवर्गीय दबे कुचले समाज के लिए प्रेरक शक्ति का द्योतक बना है। दलित साहित्य वर्ण व्यवस्था के विरोध में लिखा एक ऐसा साहित्यक आन्दोलन है जिसमें दलित एवं गैरदलित साहित्यकारों की सहभागिता सराहनीय है।

दलित साहित्य की अवधारणा को लेकर लम्बी बहसें चलीं यह सवाल दलित साहित्य में प्रमुखता से छाया रहा कि दलित साहित्य कौन लिख सकता है क्या स्वानुभूति ही प्रामाणित होगी या सहानुभूति को भी स्थान मिलेगा। दलित साहित्यकारों का मानना है कि ''सवर्णों ने दलितों की पीड़ा को भोगा नहीं है इसलिए वे दलित साहित्य नहीं लिख सकते'' हलांकि यह मत ज्यादा दिनों तक टिका नहीं रह सका परन्तु आरम्भ में यह बहस का मुद्दा बना रहा''[3]। अपितु दलित साहित्य जिस प्रकार से एक नये आन्दोलन के रूप में समाज के उपेक्षित के उत्थान हेतु उभर कर सामने आया है वह अवमाननीय भी नहीं हो सकता क्योंकि दलित साहित्य द्वारा समाज के उपेक्षित वर्ग हेतु जो संघर्ष किए गये वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के लिए एक बड़ी उपलब्धि है।

दलित साहित्य का अभिप्राय

दलित लेखकों द्वारा लिखे गये साहित्य से है परन्तु दलित लेखकों के अलावा कुछ ऐसे लेखकों द्वारा भी दलित की विपत्ति कथा लिखी गयी है जो स्वंय दलित नहीं थे जैसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी रचना ''बाणभट्ट की आत्मकथा'' में निपुणिका एक अस्पृष्य जाति की कन्या होते हुए भी हजारी जी की पूरी सहानभूति पाती हुई एक सषक्त पात्र के रूप में अभिसिंचित होती है। 'प्रेमचन्द्र' की 'सदगति' 'रेणू' जी की 'उच्चाटन' कहानियों के पात्र दलित चेतना के ही प्रतीक हैं। हलांकि हम भावात्मक तौर पर यह कह सकते हैं। कि स्वानुभूति और सहानुभूति में एक अन्तर व्याप्त है परन्तु इस अन्तर को बहुत ही सूक्ष्म अन्तर के रूप में देखना चाहिए क्योंकि चाहे 'ओमप्रकाश वाल्मीक' द्वारा लिखी 'ठाकुर का कुआं।' नामक कविता हो और चाहे 'प्रेमचन्द्र' की लिखी 'ठाकुर की कुआं, नामक कहानी ये दोनों ही रचनायें पाठक वर्ग पर व्यापक प्रभाव छोड़ती हैं। बस यह ध्यान रहे कि पाठक वर्ग जातिवादिता के रंग में रंगा न हो। यदि ऐसा होता कि किसी के दर्द को समझने के लिए उस दर्द को भोगना ही जरूरी है तो दर्शकों पहले नारीजाति के उत्थान हेतु जो कदम राजा राममोहन राय ने उठाए थे उनके उस संघर्ष एवं मेहनत को निरर्थक समझना चाहिए, सिर्फ इसलिए कि वे पुरूष थे स्त्री नहीं। विधवा, सतीप्रथा, बालविवाह जैसे क्षेत्र में जो संघर्ष उन्होंने किए थे परिणाम स्वरूप नतीजे आज हमारे सामने हैं। निराला जी ने कुकुरमुत्ता नामक कविता में कुकुरमुत्ता को जिस गरीब, शोषित, उपेक्षित वर्ग का परिचायक माना है। वह किसी एक जाति के न होकर के प्रत्येक जाति वर्ग तथा प्रत्येक समुदाय में देखने को मिलते हैं ''भारत एक गरीब देश है, यहां की आधी से ज्यादा आबादी दलित ही है''[4]। अपितु साहित्य चाहे दलित साहित्यकार लिखे या गैर दलित वह साहित्य का ही अभिन्न अंग कहलाएगा। वह दलित साहित्य जिसका एक मात्र आधार समन्ववाद की स्थापना करते हुए सम्पूर्ण मनुष्य जाति को शोषित होने से बचाना तथा जागरुक करना है।

दलित साहित्य का स्वरूप यद्यपि_नया है परन्तु दलितों की दयनीय दशा ने प्राचीनकाल से दलितों की दयनीय दशा पर प्राचीनकाल से ही रचनाकारों को कुछ पॅक्तियां ही सही परन्तु लिखने पर विवश अवश्य किया है महाभारत के समय में रचनाकार व्यास ने भी दलितों की दयनीयता पर जो आन्तरिक पीड़ा महसूस की थी उसे महारथी कर्ण के चरित्र वर्णन में उजागर किया है जो उस समय की वर्ण व्यवस्था की सामाजिक कुरीतियों को भलीभांति दर्शाता है। अतः यह पता चलता है कि वर्ण व्यवस्था की यह दुश्परिणामी परम्परा आज की नहीं अपितु युगों पुरानी है। भक्तिकाल में सन्त रविदास एक दलित रचनाकार थे इन्हीं के समकालीन कबीर एक समाज सुधारक एवं समन्ववादी रचनाकार माने गये हैं जिन्होंने जाति–पाति का खण्डन जगह–जगह किया हुआ है–

जाति–पांति पूछै, नहिं कोई।
हरि को भजै, सो हरिको होई।।

''दो शताब्दी पूर्व रामानुज ने राम प्रिय मन्दिरों के द्वार पंचमों (अन्त्यजों–अछूतों) के लिए भी खोल दिये थे''[5]। जहां उस समय शूद्रों के लिए मन्दिरों में प्रवेश पूजा अर्चन आदि धार्मिक कार्य वर्जित माने गये थे वहीं ''रामानन्द (1299 ई0) का जन्म हुआ उन्होंने उत्तर भारत

में एक सामाजिक–धार्मिक आन्दोलन का श्री गणेश किया, जिससे जातिगत ऊँच–नींच की भावना और बाह्य कर्मकाण्ड पर कठोर आघात किया तथा नींच कही जाने वाली जातियों के लोगों को भी अपना शिष्य बनाया ''[6]।

दलित वर्ग एवं समस्त स्त्री वर्ग में आंषिक समानता पायी जाती है, ऐसा कहना भी असंगति न होगा जहां एक ओर दलित साहित्य से अभिप्राय है दलित वर्ग पर लिखा साहित्य वहीं स्त्री वर्ग से मेरा अभिप्राय है समस्त स्त्री वर्ग, फिर चाहे वह किसी भी जाति समुदाय या वर्ग विशेष की स्त्री हो, जिस प्रकार दलित का अर्थ होता है दीन–हीन हमेशा दबाकर रखा जाने वाला ठीक उसी प्रकार हमारे पुरूष सत्तावादी समाज में दीन–हीन समझकर उसे दबाकर रखे जाने की यह प्राचीन परम्परा किसी विशेष जाति वर्ग की स्त्री के लिए नहीं बनी अपितु समस्त स्त्री वर्ग की यही विडम्बना है।

''ढोल गंवार शूद्र पशू,नारी,
सकल ताड़ना के अधिकारी।''[7]

गोस्वामी जी की इन पॅक्तियों से न सिर्फ उस युग विशेष की सामाजिक व्यवस्था का पता चलता है अपितु यह भी सिद्ध होता है कि उस समय के समाज ने इन दोनों वर्गो के लिए किस तरह के अधिकरों का प्रावधान कर रख था। हलांकि बाद में 'ताड़ना' शब्द पर अनेक विद्वानों ने अपने अलग–अलग मत प्रस्तुत किए हैं आ0 रामचन्द्र शुक्ल ने 'ताड़ना' शब्द का अर्थ 'शिक्षा' माना है अगर इनके इस मत पर भी गौर किया जाए तो हमें यह ज्ञात होता है कि प्राचीन समय से ही दलितों और स्त्रियों को शिक्षा के अधिकार से दलितों और स्त्रियों को शिक्षा के अधिकार से वंचित रखा गया था और इसीलिए तुलसीदास जी को इन दोनों वर्गों की सहानूभूति में यह पॅक्तियां लिखनी पड़ी। एक सभ्य समाज के निमार्ण में जो स्त्री बेटी, बहन पत्नी और मॉ के रूप में पुरूष के बराबर अपनी भागीदारी पेश करती है उसी समाज ने स्त्री को मात्र दासी का दर्जा दे रखा है फिर चाहे वह चाहे दलित स्त्री हो या सवर्ण स्त्री। सवर्णों में जब खुद अपने ही घर की स्त्रियों को दोयम दर्जे का मान रखा है तो ''एक दलित स्त्री को तो दोहरे अभिशाप से गुजरना पड़ता है एक तो उसका स्त्री होना दूसरा दलित होना''[8]। अपनी आत्मकथा ''दोहरा अभिशाप'' में कौशल्या वैसंत्री ने अपनी इसी पीड़ा को बड़ी मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया है। सखाराम की स्त्री मजदूरी करती थी। रास्ते में आते–जाते सवर्ण मिस्तरी उसे छेड़ता था। जब उसने इसका विरोध किया तो वह बेशर्म मिस्तरी उस पर हंस रहा था साथ ही मजदूर भी यह देख उसका मजाक उड़ा रहे थे। जब उसने यह बात पति को बताई तो पति ने उसकी रक्षा का संघर्ष करने की बजाय उल्टा पत्नी को ही बदचलन बताते हुए रात भर घर से बाहर रखा। पूरी रात डर–डर कर रही बेचारी स्त्री को सुबह गधे पर बैठाकर अपनों ने ही उसे अपमानित किया। जिससे अन्ततः हारकर अपने संघर्षमयी जीवन का उसने अन्त कर दिया और उसके मॉ बाप ने भी उसे कुल्टा ही कहकर उसकी मौत पर संतोश जाहिर किया।

जातिवाद एवं राजनीतिक विचारधारा से दलित साहित्य भी अछूता नहीं है। प्राचीन सभ्यता एवं समाजषास्त्र में, कि वर्ण व्यवस्था समाज को नियन्त्रित करने की एक संरचना है भारतीय प्रसंग में समाज की बुनियाद ही वर्ण और जाति केन्द्रित सामाजिक व्यवस्था पर विद्यमान है जिसकी व्याख्या मनुस्मृति में भी कुछ इसी प्रकार की गयी थी कि ब्रम्हण आदि तीनों वर्णों की निश्कपट भाव से सेवा करना ही शूद्रों का प्रधान कर्म है भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था से उत्पन्न इन्हीं कुरीतियों ने तो आधुनिक विचारकों में प्रतिरोध और संघर्ष की चेतना जागृति की है।

वर्ण व्यवस्था को राजनीति का ही अभिन्न अंग कहा जाये।तो इसमें विसंगति न होगी, क्योंकि जब से हमारा देश स्वतन्त्र हुआ है तब से लेकर आज तक सत्ता में आने या बने रहने के लिए नेताओं ने जातिवादिता का सहारा लिया अवश्य है। यही विडम्बना है कि देश के इन प्रमुख लोगों को जहां सामाजिक समन्वय की पहल करनी चाहिए वहीं आज के इस आधुनिक युग में भी बोट बैंक तैयार करने के लिए जातिवाद और धर्म के अखाड़े तैयार कर मानवता और एकता के विचारों शर्मसार किया जा रहा है। महाभारत में कर्ण को दुर्योधन द्वारा अपना मित्र बनाना अंग देश का राजा बनाना और अपनी सत्ता में शामिल करना यह सब उसकी राजनीतिक विचारधारा का ही द्योतक था।

समन्वयवादी विचारधारा के विपरीत वर्ण व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है, जिससे सिर्फ दलित वर्ग ही प्रभावित नहीं हुआ अपितु समस्त मानव जाति के लिये यह व्यवस्था अभिशाप के रूप में उभरी थी और है फर्क सिर्फ इतना कि उच्चवर्गीय समाज के कुछ विशेष लोग ही इससे प्रभावित है जबकि निम्नवर्गीय समाज का समस्त दलित वर्ग इस व्यवस्था से सदैव प्रभावित रहा है। उच्चवर्ण में भी कई जातियॉ और एक ही जाति के कई कुल बंटे हुए हैं कोई उच्चवर्णीय प्रेमी युगल एक ही जाति से सम्बद्ध होने के पश्चात भी उनमें से कोई एक निम्न कुल से सम्बन्धित तो उनके आदर्श प्रेम में यह वर्ण व्यवस्था अभिशाप ही बन जाती है। और जहां प्रेमी युगल के जाति में अन्तर हो तो यह राजनीति का मुद्दा बने बिना कैसे रह सकता है। भले ही वह राजनीति किसी भी स्तर की हो पारिवारिक, सामाजिक, या राजनीतिक सत्ता की।

जिस व्यक्ति के अन्दर राष्ट्रीयता एवं मानवता विद्यमान है वह सदैव विपत्ति पड़ने पर मनुष्य का सहारा बनता है। जातिवाद की राजनीति किये बिना। क्योंकि मानवता की कोई जाति नही होती। गांधी, नेहरू, काशीराम, अम्बेडकर, लोहिया जी जैसे महापुरूशों के विचारों पर गहन अध्ययन करना चाहिए। नाम या जाति विषेश की राजनीति करने का मतलब है एक वर्ग का उत्थान तो वहीं दूसरे वर्ग के प्रति अमानवीय विचारों से परिपूर्ण होना। क्योंकि मानवता की कोई जाति नहीं होती और जिस व्यक्ति के अन्दर साम्यता एवं मानवता नहीं वही हमेषा अपने से दीन–हीन का शोषण करता है। खुद दलित वर्ग के होने के पश्चात भी संखवार जाति के लोग अपने से निम्न कहीं जाने वाली बाल्मीक जाति के लोगों को अपने बराबर बैठाने में असहज महसूस करते हैं, राजनीतिक विचारों के ही दुष्परिणाम हैं।

अध्ययन का उद्देश्य

दलित वर्ग हो स्त्री वर्ग या कोई और पिछड़ा वर्ग सत्ता में अपनी बराबरी की भगीदारी चाहता है। सम्मान और समानता के अधिकार के साथ ही जीने का अधिकार दिलाना ही दलित साहित्य का एक मात्र उद्देश्य है जिसके लिये डा0 अम्बेडकर से लेकर आधुनिक साहित्यकारों ने भरसक प्रयास किये हैं परन्तु दलित साहित्य के नाम पर एक नया सम्प्रदाय तैयार कर लेना आरोप लगाना उन्हें खुद से अलग–थलग कर रामविलास शर्मा और नामवर सिंह जैसे प्रगति षील चिन्तकों पर सीधे–सीधे यह अरोप लगा देना कि उन्होंने ''मार्क्सवाद के नाम पर ब्राम्हणवाद को प्रस्तुत किया है''9। दलित साहित्य का उद्देश्य है समाज में व्याप्त असमानता को दूर करना क्योंकि प्रत्येक वर्ग में एक पक्ष ऊँचा तो एक पक्ष नीचे है। जैसा कि पूर्व में उल्लिखित है कि एक वर्ग में कई जातियॉ और एक जाति में कई कुल बंटे हुए हैं। असमानता के इसी दुर्गुण से समस्त मानव जाति किसी न किसी प्रकार से प्रभावित अवश्य है। किन्तु कंवल भारती जी की यह हठधर्मिता थी कि, ''यदि आप दलित साहित्य नहीं पढ़ेगे तो हम आपके प्रेमचन्द्र एवं निराला को क्यों पढें''10। किन्तु द्विवेदी जी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की 'निपुणिका' 'प्रेमचन्द्र' की कहानी 'ठाकुर का कुआँ' का 'जोखू',–कफन' का 'घीसू' और माधव' रेणू जी के उच्चाटन का 'बिलसिया' जैसे अस्पृष्य जाति के पात्र 'भारती' जी की कही हुई इस बात का समर्थन करते है।

दलित साहित्य का उद्देश्य है, सदियों से पददलित, अछूत उपेक्षित शिक्षा से वंचित और शोषितों को उनके अधिकारों के प्रति जागरुक करना। वैचारिक उदात्तता से परिपूर्ण साहित्यिक क्रान्ति करना नैतिकता एवं मानवीय गुणों की स्थापना करना। ना कि दलित साहित्य के नाम पर कुंठाग्रस्त विचारों एवं हठधर्मिता का अखाड़ा तैयार करना। जहॉ उच्चवर्ग के बहुत से लोग ऐसी सामाजिक असमानताओं को दूर करने के प्रयास में निरन्तर ही अपना योगदान देते रहें हैं वहीं दलित साहित्य का भी प्रमुख उद्देश्य सामाजिक समानता ही होना चाहिए न कि सवर्ण रचनाकरों कि कमियां निकालने एवं गिनाने में समय को बर्बाद करना। दलित मसीहा डॉ0 अम्बेडकर ने संविधान का निर्माण किसी एक जाति हित के आधार पर नहीं किया जिस प्रकार संविधान समस्त देश वासियों के लिए एक ही है। उसी प्रकार साहित्य का उद्देश्य भी एक ही होना चाहिए। उपेक्षित शोषित एवं अशिक्षित नागरिकों को बनाना तथा उनके अन्दर उदात्त मानवीय गुणों एवं विचारों को उत्पन्न करना। ''शरण कुमार लिंबाले' जी भी कहते है'' दलित साहित्य अपना केन्द्र बिन्दु मनुष्य को मानता है। किसी भी बहिष्कृत समाज की वेदना ही किसी भी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि होनी चाहिए न कि जातिवाद के नाम पर आरोपों एवं प्रत्यारोपों की संकल्पना तैयार करना। क्योंकि यह बहिष्कृत समाज किसी भी रूप या किसी भी जाति में हो सकता है। समाज द्वारा सतायी गयी वो स्त्री जिसे समाज ने वैश्या कहकर बहिश्कृत किया या निर्दोश होने बाद भी जेल की सजा काटकर लौटने वाले वो कैदी जिनको भी समाज ने बहिष्कृत कर रखा है क्या उनकी वेदना एवं परिस्थितियों का मूल्याकंन करने हेतु किसी अलग एवं नये साहित्य का इंतजार करना होगा।

इस प्रकार गैरदलित साहित्यकारों को प्रत्यारोपित करके गैर दलित पाठकों के लिए भी शर्तें रखना किसी भी आदर्श साहित्य की आत्मिक संवेदना नहीं हो सकती। अतः दलित साहित्य को जातिवादिता तक ही सीमित न रखकर समस्त बहिष्कृत समाज के प्रति सहानुभूति रखते हुए समन्वयवाद की स्थापना करनी चाहिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. *सोहनलाल समुनाक्षर– विश्वधरातल पर दलित साहित्य, भारतीय दलित साहित्य अकादमी, दिल्ली–1999 पृं0 सं0 9.11।*
2. *नजरिया, BBC (हिन्दी)* , Googlewerlight.com
3. *वीरभारत तलवार –दलित साहित्य अवधारणा, चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य, पृं0 सं0 75,।*
4. *राजकिशोर, "अगर में दलित होता", साहित्य–धर्मयुग, 1994 पृं0 सं0 22।*
5. *डा0 ईश्वरदत्त शील, हिन्दी साहित्य का मध्यकाल ISBN:81.902924.7.1, पृं0 सं0 07।*
6. *डा0 ईश्वरदत्त शील, हिन्दी साहित्य का मध्यकाल, 81.902924.7.1, पृं0 सं0 06।*
7. *हनुमानप्रसाद पोद्दार – रामचरितमानस, मंझला सटीक(विशिष्ट संस्करण), पृं0 सं0 705।*
8. *हंसपत्रिका दलित –विशेषांक, अंक 1 अगस्त 2004, संपादक राजेंद्र यादव, दिल्ली पृं0 सं0 70।*
9. *दलितजन उभार, पृं0 18813, हंस, अगस्त 2004, पृं0 सं0 84।*
10. *इंडिया टुडे, 6 दिसम्बर 2000,।*